# देख लो

इस जग में कितना ही तुम स्वच्छन्द विचर कर देख लो।
तृप्ति न होगी, फिर भी कौतुक इधर-अधर के देख लो ।।
जिस सुख को प्राणी अपनाता वही ईश से विमुख बनाता ।
सुख ही है सर्वत्र नचाता सुखासक्त प्राणी दुख पाता ।।
नहीं समझ में आए तो तुम भी जी भर के देख लो।
सीखो जग में सेवा करना, सीखो दुखियों के दुख हरना।
सीखो भव से पार उतरना, सत् पथ में अब कहीं न डरना।
जो आया है जाएगा, यह धीरज धर के देख लो ।।
जग में जो कुछ बोया जाता, कई गुना बढ़ कर वह आता।
जो सुख देता वह सुख पाता, मानव अपना भाग्य विधाता।
यदि तुमको विश्वास न हो, तो कुछ भी करके देख लो ।
जिसको तुमने अपना माना, यहाँ किसी का नहीं ठिकाना।।
निश्चित् है जिसका छुट जाना, व्यर्थ न उससे मोह बढ़ाना।
तन में रहते हुए 'पथिक' तुम मन से मर के देख लो ।।



# साधकों से

## साधना आराधना के प्रेमी साधको !

साधना को, दिवस के कुछ घन्टों में, मास के किसी दिन में, वर्ष के किसी मास में अथवा अवस्था के किसी वर्ष में या जीवन की किसी अवस्था में ही सीमित नहीं बनाये रखना है; प्रत्युत समग्र जीवन को ही, साधन बना लेना ही, सिद्ध पुरूषों का सन्देश है।

कुछ वाह्य क्रिया प्रधान साधनाओं को ही पूर्ण साधना नहीं मान लेना है। साधन को समग्र भाव से एवं विवेक से और प्रेम से भरपूर कर लेना है।

छिपा हुआ अन्तरंग साधन वाह्य साधनों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है; छिपा हुआ त्याग गुप्त गति से प्रेम को पूर्ण बना देता है। छिपी हुई प्रीति में चुपके-चुपके प्रियतम का योगानुभव करा देने की अदभुद् शक्ति होती है।

जो बाहरी साधनों में अपने को बाँध लेता है उसमें अभिमान आ जाता है। बाहरी साधना से ऊपर के दोष



ढँक जाते हैं परन्तु मिट नहीं पाते।

साधक का कर्त्तव्य है कि सर्वप्रथम अन्तिम साध्य को जान ले पुनः साधन का विवेक प्राप्त करे जो कुछ जीवन में मिला है वह सब साधन ही है।

साधन के दुरूपयोग से अन्त में दुःख मिलता है और सदुपयोग से अन्त में आनन्द का नित्य योगानुभाव होता है।

जिससे चित्त की शुद्धि हो वही साधन सफल है। चित्त शुद्ध हुए बिना जो साधन किया जाता है, उससे अभिमान की वृद्धि होती है।

जीवन को ही साधन बनाओ। जिसकी साधना घण्टे दो घण्टे में नित्य समाप्त होती है, उसे अभी साधन का ज्ञान ही नहीं है।

साधन वही है, जिसके सहारे साध्य का नित्य सानिध्य (निकटता) सुलभ हो।

साधन वही है, जिसके द्वारा काम एवं राग की निवृत्ति हो; राम से अनुरक्ति हो।



प्रियतम की प्रसन्नता ही साधना है।

परम प्रभु के प्यार तथा विश्वास में चित्त स्थिर रहे यही आराधना है।

मन निर्विकार हो, बुद्धि समस्थिर हो, हृदय प्रभु के अनुराग से भरा हो, यही उपासना है।

त्याग और प्रेम ही उत्कृष्ट साधन हैं।

किसी वस्तु व्यक्ति एवं भोग सुख का चिन्तन न हो, यह साधन की सर्वोत्तम सफलता है।

मौन होना भी आवश्यक साधन है। वाणी के मौन से शक्ति प्राप्त होती है, मन के मौन से शान्ति सुलभ होती है और बुद्धि के मौन होने पर ब्रह्म ज्ञान की उपलब्धि होती है।

साधक वही सुन्दर है, जो जितेन्द्रिय हो, जो प्राणियों की सेवा में संलग्न हो, जिसका चित्त भगवद् चिन्तन से विमुख न होता हो।

साधक वही सुन्दर है जो अप्राप्त का चिन्तन न करता हो, जो प्राप्त वस्तुओं को अपनी न मानता हो और मिली

हुई शक्ति सम्पत्ति तथा योग्यता का सेवा में सदुपयोग करता हो।

साधक वही सुन्दर है, जो अपनी प्रसन्नता संसार की वस्तुओं व्यक्तियों में निर्भर न रखता हो, जो संसार समाज के ऋण से मुक्त होने के लिए सावधान हो।

साधक वही सावधान है, जो अपने अधिकार का त्याग करता हो, दूसरों की पूर्ति के लिए अपने कर्त्तव्य का पालन करता हो, जो रागद्वेष से मुक्त हो।

साधक वही सावधान है, जो आगे पीछे का चिन्तन न करता हो, वर्तमान का सदुपयोग करता हो।

साधक वही सराहनीय है, जो संसार से आशा और सम्बन्ध को तोड़ चुका है, जिसने सुखोपभोग की, मन की तृष्णा का त्याग किया है।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है, जो अपनी योग्यता के अनुसार ईमानदारी पूर्वक पवित्र भाव से श्रम करता है और अपने लक्ष्य को अर्थात भगवान् को कभी नहीं भूलता है।



उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है जो अपने मन को अन्तरात्मा में लगाता है या फिर विश्वात्मा परमात्मा में लगाता है।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है जो अपने हृदय और मस्तिष्क में एकता प्राप्त कर लेता है, साथ ही अपने को सब ओर से हटा लेता है, और अपने में से सब कुछ हटा देता है, अर्थात् असंगता प्राप्त कर लेता है।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है, जो योगानुभव को लिए समग्र प्रीति को समेटकर व्याकुल रहता है, जिसमें धन की अथवा भोग की कामना नहीं रहती ।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है, जो किसी का भी बुरा नहीं चाहता, दूसरों के पास होने वाली वस्तुओं की इच्छा नहीं करता, इन्द्रियों से प्रतीत होने वाली वस्तुओं को सत्य नहीं मानता अपनी प्रसन्नता के लिए किसी अन्य की ओर नहीं देखता केवल परमात्मा को अपना परमाश्रय अनुभव करता है।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है जो देह को अपना रूप नहीं मानता उसे अपनी नहीं समझता, जो



संसार में रहते हुए संसार को अपने भीतर नहीं रखता, जो कछुवा की भाँति इन्द्रियों को अन्तर्मुख रख कर बुद्धि को स्थिर कर लेता है।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है, जो मन-मुख न रह कर सदा गुरू-मुख होकर (गुरू आज्ञानुसार) आचरण करता है, जो भगवान् के नाते सारे कर्म सेवा भाव से करता है, जो परमात्मा का निरन्तर स्मरण चिन्तन करता रहता है।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है, जिसके विश्वास में विश्वम्भर का निरन्तर निवास है, जो भय चिन्ता अभिमान आदि विकारों से ऊपर उठ चुका है, जो सांसारिक अनुकूलता प्रतिकूलता दोनों को मिथ्या जानता है और अविचलित रहता है।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है, जो अपने सुख के लिए किसी को दुःख नहीं देता, जो मिले सुख वैभव का अभिमान न करके उसे दूसरों की सेवा में सदुपयोग करता है, दुःख आने पर संसार के आगे दीन नहीं बनता केवल परमेश्वर की ही शरण लेता है, किसी वस्तु को अपनी



नही मानता, प्राणीमात्र के प्रति हित की भावना रखता है, किसी से घृणा द्वेष नहीं करता, अपने प्रियतम प्रभु को अपने से दूर नहीं मानता और व्यर्थ कुछ भी नहीं करता।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है, जो सुखासक्ति का त्याग कर देता है, जिसमें दुःख का भय नहीं रह जाता, संयोग की दासता से मुक्त हो जाता है, किसी के वियोग की वेदना जिसे नही सताती, जो त्याग को ज्ञान को प्रेम को पूर्ण कर लेने के लिए सतत् (निरन्तर) प्रयत्नशील है।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है, जो कठिनाइयों कष्टों के बीच में चलते हुए लक्ष्य को नहीं भूलता, जो परमात्मा के स्मरण मात्र से ही प्रसन्न रहता है, जो स्वधर्म पालन में आने वाले दुःखो को प्रसन्नता पूर्वक सह लेता है किन्तु अभिमान नहीं आने देता और सदा आलस्य प्रमाद से सावधान रहता है।

उसी साधक को सिद्धि सुलभ होती है, जो अपने मन को सदा के लिए शिष्य बना लेता है और उस पर गुरू ज्ञान का शासन रखता है, जो किसी का सुधारक कल्याणकर्ता नहीं बनता, जो दूसरों के द्वारा दिये गये शूल

को अपना हितकारी मानकर फूल की तरह स्वागत करता है, जो सदा अपना निरीक्षण करता रहता है, और चाहों से चित्त अशुद्ध नहीं होने देता।

जिसकी प्रबल चाह होती है उसी का स्मरण चिन्तन ध्यान होता है-यही तो वास्तविक पूजा है। साधक वही जो एक की पूजा करे, असाधक अनेक की पूजा करता है।

**नारायण हरि लगन में, यह पाँचो न सुहात।**
**विषय, भोग, निद्रा, हँसी, जगत् प्रीति बहु बात।।**

साधना काल में कहीं शक्ति व्यर्थ नष्ट न हो इसके लिए सदा सावधान रहना चाहिए। कामोपभोग में, क्रोध में, हानि, अपमान तथा वियोग की आशंका चिन्ता में, अत्यधिक शक्ति नष्ट होती है। बहुत कम साधक ऐसे होंगे जो अपनी शक्ति को अपव्यय से बचाने के लिए विधिवत् प्रयत्न करते हों।

साधक को चाहिए कि अपने में सद्गुणों की कमी और दोषों की प्रबलता पर विचार करे और उसी प्रकार दोषनिवृत्ति के लिए, गुणवृद्धि के लिए व्याकुल होता रहे



तदनुसार प्रयत्न करता रहे जिस प्रकार धन की, अन्न की, वस्त्रों, आभूषणों की कमी से प्रायः लोगों को दुःख होता रहता है।

जब तक साधक अधिक लोगों से मिलना अधिक वार्ता करना न छोड़ेगा तब तक उसमें मनन करने का, विचार करने का बल न बढ़ेगा। बहुत आवश्यकता होने पर बोलना चाहिए। लोगों के मध्य में जब कोई आवश्यक कार्य न हो तब सबके बीच में व्यर्थ में न बैठना चाहिए। एकान्त बैठने से अध्ययन भजन जप अच्छा होता है और पारस्परिक प्रपंच का प्रभाव नहीं पड़ता।

एकान्त में रहकर यह देखते रहने की आवश्यकता है कि मन में भविष्य की चिन्ता या बीती हुई बातों का मनन तो नहीं चल रहा है; किसी सम्बन्धी के स्मरण में तो तल्लीन नहीं हो रहा है। मन इधर उधर जाय तो बार-बार लौटा कर साधन भजन अध्ययन में लगाना चाहिए। ऐसा करना तभी सम्भव है जब आत्मकल्याण की चाह प्रबल होगी। चाह प्रबल होने पर त्याग, तप, एवं दान, करना सरल होगा।



परमार्थ प्रेमी साधक को चाहिए कि क्रोध न करके क्षमा कर देने और अपनी भूल होने पर क्षमा माँग लेने का दृढ़ संकल्प कर ले और अवसर पर उसका ध्यान रक्खे। किसी के कटु शब्दों को सुन कर, अपना अपमान देख कर नम्र बना रहे, उत्तर न देवे और उसी समय विचार करे कि प्रायः जितने महात्मा हुए हैं, वह सब अवसर पड़ने पर कहीं सहन करके, कहीं धीरज रखकर, नम्र बने रह कर सन्तोष धारण, करके अपनी साधना में सफल हो सके हैं। इसी युग में गाँधी जी को अपने आप ही मानव समाज ने महात्मा गाँधी कहते हुए अपना मस्तक झुकाया; वह इसीलिए कि महात्मा गाँधी ने अपने अपमान करने वालों; कष्ट देने वालों को क्षमा करने या किसी को अपने सुख के लिए दुख न देने का, स्वयं दूसरों के हित के लिए कष्ट सहते रहने का व्रत सा ले रक्खा था आज उनके जीवन चरित्र से सहस्त्रों व्यक्तियों को प्रेरणा मिल रही है।

क्रोध करने वाले लोभी, मोही, अभिमानी, ईर्ष्यालु, द्वेषी लाखों करोड़ो मनुष्य हैं परन्तु उनके बीच में क्षमा करने वाले उदार, दानी, निरभिमानी, विवेकी एवं सन्तोषी



खोजने पर कहीं-कहीं मिलेंगे और वही सच्चे साधक होंगे, उन्ही को पारमार्थिक सिद्धि सुलभ होगी।

जिसके मन में दूसरों के द्वारा मिलने वाला मान बड़ाई का मूल्य चढ़ा हुआ है, जिसके मन में सुन्दर वस्त्र, आभूषण, घड़ी, छड़ी जूता, छाता लदा हुआ है, जो धन को ही जीवन की ऊँची सम्पदा मान रहे हैं, जिनके मन में शरीर के चमड़े की सुन्दरता शासन कर रही है, उससे बढ़कर उन्हें अपने स्वरूप की सुन्दर महिमा का किंचित् भान ही नहीं है, वह साधन पथ में आगे बढ़ ही नहीं सकते।

मिले हुए शरीर में जीवात्मा और परमात्मा की जातीय एकता का तथा मानी हुई भिन्नता का विवेक प्राप्त करो। इच्छाओं कामनाओं, से तथा माने हुए सम्बन्ध, संग से रहित अपना स्वरूप क्या है! इसका अनुभव करो।

जिससे कभी वियोग होना ही नही है उसी को जानो और उसी के समर्पित होकर रहो, जिसका कभी वियोग होना है उस पर निर्भर होकर न रहो। जो कुछ जड़ है,

विनाशी है उन देहादिक वस्तुओं को अपनी मान कर अपना रूप समझकर मोही लोभी अभिमानी न बनो।

ध्यान रक्खो! जिसको अपने से अभिन्न देखोगे उसी के भक्त बनोगे। जिससे असंगता प्राप्त कर लोगे उसी के बन्धन से मुक्त बनोगे, अर्थात् जब संसार से कुछ न चाहोगे तभी संसार के बन्धन से मुक्त हो जाओगे। जिसे तुम अपना मानोगे उसी से तुम्हारी प्रीति हो जायेगी। जिससे सम्बन्ध जोड़ लोगे उसी का चिन्तन होता रहेगा। जिसकी इच्छा न करोगे, जिसे अपना मानोगे ही नहीं उसी के त्यागी रहोगे। किसी वस्तु के साथ मिल कर 'मैं' न कहो और उसे अपनी न मानो यही त्याग है। स्वधर्म पालन में तथा सेवा करते हुए कष्ट सहना, साधनपथ में कठिनाइयों को सहन करना तप है। इस संसार में जो सर्वव्यापक, जड़ता से, मृत्यु अर्थात् विनाशी एवं परिवर्तन से मुक्त सत चिद् आनन्द स्वरूप पूर्ण तत्व है उसी की महिमा को श्रवण करो।

जो सच्चिदानन्द स्वरूप पूर्ण तत्व है उसी की महान कीर्ति का गान करो, सर्वत्र उसी कीर्ति की चर्चा करो।



अपने जीवन की अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति में हर्ष शोक संयोग वियोग आदि द्वन्दों में उसी सच्चिदानन्द स्वरूप सर्व व्यापक पूर्णतत्व का निरन्तर स्मरण रक्खो। इस शरीर द्वारा अथवा प्राप्त शक्ति तथा योग्यता के द्वारा जो कुछ भी करो वह प्राणियों के सुख तथा हित का ध्यान रख कर करो, ऐसा कुछ न करो जिस से किसी का अहित हो। अपने सुख के लिए किसी को दुख न दो।

संसार में जहाँ कहीं शुभ सुन्दर पवित्र तथा ऐश्वर्य माधुर्य का दर्शन हो उसे देख कर उसी अनन्त शक्तिमान् अनन्त गुण प्रकाशक पूर्ण परमात्मा की ही वन्दना करो। सभी प्राणियों में एक अखण्ड सदचिद् परमसत्ता का अनुभव करते हुए सभी से प्रेम करो सभी की सेवा सहायता करते रहो।

लक्ष्य को प्राप्त करने की दृढ़ प्रतिज्ञा का नाम व्रत है। दोष को तथा भूल को न दुहराना प्रायश्चित है अथवा सुख भोग ही पूर्ण दुख दिखाई दे यही प्रायश्चित है। वासना पर विजय प्राप्त करना इन्द्रिय तथा मन को वश में रखना शूरता है। कर्मो में तथा फल भोग में आसक्त न होना



शौच है, शुद्धि है। विजातीय वस्तु का हट जाना ही वस्तु की शुद्धि है। सदगुण ही सौन्दर्य है पाप से घृणा ही लज्जा है। जिससे जीवात्मा, परमात्मा, ब्रह्म का भेद मिटे वही विद्या है।

सर्वत्र परमात्मा का अनुभव ही सत्य दर्शन है।

धर्म ही विद्वान का धन है। ज्ञानोपदेश ही दक्षिणा है। दुःख सुख के बन्धन से मुक्त होना ही आनन्द है।

भोगों की कामना होना ही दुखारम्भ है। बन्धन तथा मोक्ष का तत्व का ज्ञाता ही पण्डित है। अनेकता में एक तत्व का द्रष्टा हो पण्डित है। देहादिक वस्तु से ममता ही मूर्खता है। चित्त की वहिर्मुखता ही कुमार्ग है। भक्ति के लिये विरक्ति ही सुमार्ग है। सदगुणों की वृद्धि ही नर्क है। असन्तोषी ही दरिद्र है। अजितेन्द्रिय कृपण है। जो निरासक्त है, विषयों से विरक्त है वह स्वतन्त्र समर्थ है।

किसी को गुणी समझ कर रागी होना, किसी को दोषी समझ कर द्वेष घृणा करना सबसे बड़ा दोष है। नित्य शान्त, निस्संकल्प स्वरूप में स्थिर रहना सर्वोपरि गुण है।



प्राप्त शक्ति सम्पत्ति से दूसरों के काम आना धर्ममय जीवन है। दूसरों की शक्ति सम्पत्ति को अपने काम में लाते हुए सुख मानना अधर्मयुक्त जीवन है। जो कुछ अपने प्रति नहीं चाहते वही दूसरों के साथ न करना सदाचार है। अपने सुख को बाँटना उदारता है, दुःख को बांटना अधमता है।

एक सन्त के कथनानुसार व्यर्थ कार्यो तथा व्यर्थ चेष्टाओं के त्याग से, एक समय में एक ही कार्य करने से, कोई कार्य करते हुए उसी में पूरी शक्ति लगा देने से, कार्य के अन्त में कार्य से सम्बन्ध तोड़ लेने से, आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से, वर्तमान परिस्थिति तथा योग्यता एवं शक्ति का का सदुपयोग करने से वासनाओं के त्याग से मनका सम्यक विरोध होता है।

धन मान तथा भोग सुख की तृष्णा एवं क्रोध और भय आदि वृत्तियों के त्याग से बुद्धि स्थिर होती है।

जैसे-जैसे इच्छाओं का त्याग होता जाता है, विषय सुखों के स्थान में ईश्वर चिन्तन होने लगता है, स्वार्थ पूर्ति

के स्थान में सेवा होने लगती है, वैसे ही वैसे दोष मिटते जाते हैं, गुण बढ़ते जाते हैं।

संसार में किसी भोग सुख की कामना शेष न रहे, यही योग की सिद्धि है। मन को सब ओर से हटा कर एक ओर लगाना ध्यानाभ्यास है। जिसमें आरम्भ और अन्त होता है वही अभ्यास है, जिसे कहीं भुलाया नहीं जाता स्वतः होता रहता है वह ध्यान है। वास्तविक ध्यान वही है, जब कि मन सर्व विषय कामना से रहित हो जाता है। जो निष्काम है निरपेक्ष हो चुका है उससे ही भक्ति हो सकती है।

संयोग का सुख लोभ, वियोग का भय एवं हानि की चिन्ता होने से, मन स्थिर नहीं होता।

जब तक काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष डाह, अहंकार, क्रूरता, कठोरता, हृदय हीनता, हिंसा आदि दुर्गुणों की विशेषता है, तब तक कोई धर्म परायण आस्तिक, सत्य का प्रेमी सिद्ध नहीं होता।

जो कुछ कर सकते हो उसकी पूर्ति में आलस्य न



आने दो जो नहीं कर सकते उसकी चिन्ता न करो।

जिसकी प्राप्ति में स्वतन्त्र स्वाधीन हो उसी को चाहो किन्तु जिसकी प्राप्ति में अथवा जिस प्राप्ति की रक्षा में स्वाधीन नहीं हो उस चाह का ही त्याग कर दो।

दूसरों की सेवा करने के लिए दूसरों को मान देने के लिए शुभ, सुन्दर, प्रिय, हितकर जो कुछ भी है उसका दान करते रहने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन है परन्तु यही सब दूसरों से स्वयं लेने के लिये स्वतन्त्र स्वाधीन नहीं है अतः लेने की चाह का त्याग करना और देने की लालसा रखना विवेकी पुरूषों का कल्याणकारी निर्णय है।

जो इच्छा दूसरों के द्वारा पूर्ण नहीं होती है उस इच्छा का त्याग कर दो। ऐसा करने से तत्काल शान्ति मिल जाती है।

इच्छाओं का जन्म सत्य तत्व से विमुख होने पर अविवेक के कारण होता है, इच्छाओं का अन्त सत्य अर्थात् परमानन्द के सम्मुख होने पर सद्विवेक के आदर करने पर होता है अर्थात् पूर्ण ज्ञान होने पर होता है।



जिसे भोग-सुखों का प्रलोभन और भय विचलित नहीं कर सकता वही भगवान का भजन अथवा साधना में सिद्धि लाभ कर सकता है।

जब तक मन वश में नहीं होता तब तक अवश्य ही कोई दोष प्रबल है उसी की खोज करना चाहिये, जब तक कोई भी दोष है तब तक दुख का अन्त नहीं होगा।

तमोगुणी का दोष रजोगुणी व्यक्ति को और रजोगुणी का दोष सतोगुणी बुद्धि वाले को दिखाई देता है।

लक्ष्मी की डाह से, विद्या को मान अपमान से, अहं को प्रमाद से, बुद्धि को लोभ से, मन को काम से, चित्त को अशुद्ध चिन्तन से, शरीर को आलस्य से, धर्म को कुसंग से सदा बचाते रहना चाहिये।

सुख और दुःख का बार-बार चिन्तन करने से वस्तु व्यक्ति अवस्था परिस्थिति से सम्बन्ध जनित मोह होता है।

निष्काम दान, पुण्य, कर्म, उपासना, इच्छाओं का त्याग, सेवा और तप, संसार से निराशा और कामना



रहित प्रेम चित्त शुद्धि के साधन हैं।

सत्यस्वरूप में बुद्धि की स्थिरता, परमात्मा से अखण्ड प्रीति ही साधना की सिद्धि है।

साधना करते हुए अपनी शक्ति को क्रोध में, चिन्ता में, व्यर्थ वार्ता में, अधिक आहार सेवन में, उच्छ्रृंखल विहार में नष्ट न करो।

दुखी होकर, दूसरे को ही दोषी ठहरा कर क्रोधी ईर्ष्यालु निन्दक हिन्सक न बनों, बल्कि अपने भीतर के दोष को जानो। जब तुममें लोभ रूपी दोष न होगा तब हानि का दुःख न होगा। जब मोह रूपी दोष न होगा तब वियोग का दुःख न होगा। जब कामना रूपी दोष न होगा तब अभाव का दुःख न होगा। जब असंयम रूपी दोष न होगा तब मानसिक या शारीरिक कष्ट न होगा।

शरीर के सहित जो कुछ भी इस भूतल से मिला है, जो कभी किसी भी समय में छूट सकता है उसे अपना न मानो, क्योंकि अपना मानने से ही मोह लोभ अभिमान की परिपुष्टि हुई है। कुछ भी अपना न मानने से, परमेश्वर के

प्राकृतिक विधान द्वारा मिला हुआ जानने से, लोभ मोह अभिमान की निवृत्ति हो जाती है।

अपने उस स्वरूप को जानो जिसमें कभी परिर्वतन नहीं होता, जिसका कहीं विनाश नहीं होता जो नित्य एक रस पूर्ण है। देह को अपना स्वरूप मानना ही घोर अज्ञान का परिचय है।

तुम्हें वही वस्तु बहुत अधिक सुन्दर सुखद प्रतीत होती है, वही व्यक्ति बहुत अच्छा दिखाई देता है, जिसे अपनी अपना मानकर प्रीति करने लगते हो, जिसका अपने से अधिक मूल्य बढ़ा देते हो।

हर एक मनुष्य संग के अनुसार अथवा प्रेरणा के अनुसार जिस नाम, रूप, जाति, गुण, भाव, संस्कृति, सत्ता तथा स्थान देश, सम्बन्धी, मित्र, सुहृद, साधु सन्त गुरु के साथ अपनत्व का सम्बन्ध जोड़ लेता है, जिसे स्वीकार कर लेता है उसी से मोह हो जाता है, उसी का रागी बन जाता है और स्वीकार किये हुए के प्रतिकूल जो कुछ भी दिखाई देता है उसी से द्वेष करने लगता है।



विचारवान साधको! तुम भी अपने को देखो! यदि कहीं भी द्वेष घृणा, विरोध, ईर्ष्या, क्रोध की वृत्तियाँ प्रबल होती हैं तो स्वीकृति जनित राग के ही कारण होती हैं-इस राग द्वेष के संघर्ष से अनेकों साधक साधु सन्यासी वनस्थ तपस्वी उपदेशक भी विचलित होते रहते हैं, फिर भी आत्मनिरीक्षण नहीं कर पाते।

जिसके हृदय में धन का लोभ, अधिकार का अभिमान भरा रहता हैं उसके हृदय में सदगुणों की वृद्धि नहीं होती, दोषों का दुख पूर्वक ज्ञान नहीं होता।

संसार में समाज में सुख सम्पत्ति के लेने वाले अगणित प्राणी हैं परन्तु दूसरों को सुख-सम्पत्ति देने वाले कहीं-कहीं उदार दानी मिलते हैं। तुम अपने को देखो, लेने वालों में हो, या देने वालों में हो?

जो सम्पत्तिशाली होने पर भी नियमों के पालन में आलसी नहीं होते, जो शक्तिशाली होते हुए भी शक्तिहीनों की प्रतिकूलता सहन कर लेते हैं, जो युवावस्था से ही साधन व्रत को निभाने में प्रमादी नहीं होते, जो धन



हीन होने पर भी अपने से अधिक दुखी की सेवा-सहायता करते हुए सबको प्रियवचन तथा मान का दान करते रहते हैं, ऐसे पुरूष ही श्रेष्ट सौभाग्यशाली हैं।

अपने में गुण होने का अभिमान आने ही न दो, सदा विनम्र होकर रहो। अभिमानी पुण्यवान से विनम्र रहने वाला पापी उन्नति कर जाता है। अहंकार को ही समस्त बन्धनों की गाँठ समझो, इस गाँठ को खोलना ही मुक्त होना है।

अभिमान रहित होकर विनम्र रहने से बड़ी से बड़ी बुराई अच्छाई में परिणत हो जाती है। वह आस्तिक जो सबको परमात्मा का ही अर्थात् भगवान का ही समझकर व्यवहार करता है, उसमें अभिमान नहीं रहता।

जो देहाभिमानी है वही शूद्र है जो धनाभिमानी है वही वैश्य है, जो बल का अभिमानी है वह क्षत्री है, जो विद्या ज्ञान का अभिमानी है वह ब्राह्मण है, जो त्याग का अभिमानी है वह सन्यासी है, जो सब प्रकार के अभिमान से शून्य है वही परमहंस है। सर्वत्यागी ही सर्वोत्तम पद



प्राप्त करता है।

## साधना में आसन

साधना में स्थिर आसन से बैठना आवश्यक है। आसन वही उत्तम होगा जिसमें अधिक से अधिक देर तक, तीन घन्टा और कम से कम आधा घन्टा बिना हिले डुले बैठा जा सके। ध्यानाभ्यास करते हुए एक अंगुली भी न हिलनी चाहिए, शरीर के किसी अंग में अभ्योदित तनाव न होना चाहिए, पीठ की रीढ़ तथा गर्दन सीधी होनी चाहिए, नेत्र बन्द होने चाहिये। यदि आलस्य आने की सम्भावना हो तो पलक उतनी खुली होनी चाहिए जितने से सामने कुछ दृश्य दिखाई न दे।

आसन में बैठकर प्रथम यह विचार करना कि 'यह शरीर मैं नही हूँ यह मेरे लिये है पर मेरा नही है, क्योंकि यह सदा मेरे साथ नहीं रहेगा, यह नौ छिद्र वाली देह मेरे रहने का एक घर है।' पुनः विचारपूर्वक यह देखना चाहिए कि यह देह पृथ्वीतत्व, जलतत्व, अग्नितत्व के योग से बनी है, यह वायु की गति अर्थात् सूत्रात्मा प्राण द्वारा सुगठित है, इस देह के साथ मन-चित्त-बुद्धि हथियार (औजार) की भाँति कार्य करने के लिए मिले हुए हैं।

## साधन में ध्यान

मन की विषय वृत्तियों को रोक लेना ही ध्यान की तैयारी है। जिस प्रकार विधि पूर्वक हथियार से काम लेने पर अनुकूल सफलता प्राप्त होती है और विधि विपरीत हथियार का उपयोग करने पर अपने ही अंगों को क्षति पहुँचती है, उसी प्रकार मन-चित्त-बुद्धि रूपी औजारों का सुविधिपूर्वक उपयोग करने से जीवन में सफलता मिलती है और विधि का ध्यान न रखकर मन-बुद्धि-चित्त का उपयोग करने पर अपने ही जीवन का विनाश होता है।

साधनाभ्यास के समय उपर्युक्त विधि से शरीर इन्द्रियाँ मन-चित्त-बुद्धि से अलग होकर सर्वप्रथम अपने को चेतन स्वरूप, ज्ञान स्वरूप का अनुभव करना चाहिए, इसके पश्चात् पुनः यह विचार करना चाहिए कि, मुझ चेतन स्वरूप, ज्ञान स्वरूप का सम्बन्ध अनन्त चेतन से, अनन्त ज्ञान से, अनन्त आनन्द से है-वही परमात्मा है। परमात्मा से अपना जातीय सम्बन्ध है, जगत से माना हुआ सम्बन्ध है, देह से अथवा अन्य वस्तुओं व्यक्तियों से माना हुआ सम्बन्ध है।

इस प्रकार विचार पूर्वक देहादि वस्तुओं से अपने को



भिन्न असंग अनुभव करने पर यही देह जड़ अस्थि-माँस रुधिर आदि से निर्मित एक ढाँचे की भाँति प्रतीत होती है। इस प्रकार के ध्यानाभ्यास से चित्त शान्त होता है। मन में कोई संकल्प उठे तो उसे हटाते ही रहना चाहिए इससे शक्ति की धारा जो विविध दृश्यों से सम्बन्धित होकर बिखरती रहती है वह निरूद्ध होकर अध्यात्मिक सामर्थ्य का रूप धारण करती है।

आगे पीछे का चिन्तन भगवद् ध्यान में विघ्न डालता है। जिसका ध्यान होगा उसी की प्राप्ति होगी।

वास्तव में ध्यान करने से नहीं होता। ध्यान उसे ही कहते हैं, जो बिना किये ही होता रहे, जो भुलाने का प्रयत्न करने पर भी न भूले-ऐसा ध्यान तभी होता है जब सभी ओर से प्रीति समिट कर एक ही में लग जाती है। सांसारिक वस्तुओं तथा सम्बन्धियों का ध्यान छोड़ना ही परमात्मा के ध्यान में बुद्धि को स्थिर करने का उपाय है।

ध्यान के अभ्यास को अर्थात मन के निरोध करने की युक्तियों को ध्यान समझना भूल ही है। किसी प्रकाश की, ज्योति की, या किसी सुन्दर रूप की कल्पना करते हुए



मन को उसमें लगाना यह धारणा कहलाती है, ध्यान नहीं।

धारणा में भाव की प्रधानता होती है और ध्यान में प्रेम की विशेषता होती है।

ध्यान में वह इच्छायें बाधक हैं जो पूरी नहीं हुईं और मिट नहीं सकीं।

## साधना में चिन्तन

आसन में स्थिर होकर बैठने का जब आधा घन्टे से अधिक अभ्यास हो जाता है, जब शरीर अपने स्वरूप से अलग एक जड़ वस्तु के सदृश रक्खा हुआ सा प्रतीत होता है, उसी अवस्था में सब ओर से चित्त हटाकर बन्द नेत्रों से अँधेरे को ही देखते हुए और उस अँधेरे में परमात्मा के किसी रूप से अनुभूति की जो उत्कट लालसा है, प्रतीक्षा है-उसे ही चिन्तन कहते हैं।

जितनी गहरी प्रतीक्षा होगी उतना ही सुन्दर प्रभावशाली चिन्तन कहा जायेगा। जब परमात्मा का चिन्तन होता है तब चित्त के चंचल होने की बात सामने नहीं आती।



वियोग की वेदना में चिन्तन स्वतः होता है चिन्तन में अपनत्व का भाव प्रबल रहता है।

## साधना में स्मरण

स्मरण वही है जिसमें विस्मरण न हो। विस्मरण उसी का नहीं होता जिससे अपना सम्बन्ध दृढ़ होता है, जो सर्वभावेन अपना ही प्रतीत होता है।

साधक अपना नाम कभी नहीं भूलता, अपनी जाति कभी नहीं भूलता, सो जाने पर किसी से मिलने, अलग होने पर भी जिसे नहीं भूलता उस को स्मरण कहते हैं।

जिस प्रकार शरीर का नाम तथा उसकी जाति से सम्बन्ध जोड़ लेने पर उसका कहीं विस्मरण नहीं होता सदा स्मरण रहता है, उसी प्रकार भगवान् से परमात्मा एवं आत्मा से सम्बन्ध ज्ञान होने पर, उसे ही अपना स्वीकार कर लेने पर कहीं कभी विस्मरण न हो यही सच्चा स्मरण है। स्मरण में भाव सहित सम्बन्ध की प्रधानता होती है।

किसी भी परिस्थिति में सेवा कार्य करते हुए भगवान

के, परमात्मा के जातीय सम्बन्ध को न भूलना-यही स्मरण है। स्मरण में किसी वाह्य क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। स्मरण का सम्बन्ध मन से है; मन जिसे अपना मान लेता है, अपने में जिसे बसा लेता है या अपने को जिसमें बसा देता है उसका निरन्तर स्मरण रहता है।

मन से जो कभी न निकले उसी को निरन्तर स्मरण कहते हैं। स्मरण, निद्रा में भी नहीं भूलता। यदि सो जाने पर कोई अपनी जाति, अपना नाम तथा परिवार भूल जाता हो तो कहना होगा कि विस्मरण हो गया, परन्तु जिसे भूलता ही न हो वही स्मरण है। संसार, परिवार, शरीर तथा सभी प्रकार के व्यवहार में रहते हुए भगवान् न भूलें परमात्मा न भूलें उन्हीं के नाते जगत् के सारे कर्तव्य कर्म पूरे होते रहें, यही वास्तविक स्मरण है।

## साधना में जप

साधना में जप का बहुत व्यापक स्थान है। जिस प्रकार स्मरण में अपनत्व के भाव की प्रधानता है, उसी प्रकार जप में भाव पीछे है किन्तु ऊपर से क्रिया की ही



प्रधानता है। नाम का या मन्त्र का सहस्त्रों की संख्या में जप हो सकता है फिर भी भाव जाग्रत नहीं होता, इसीलिए प्रायः जप करते हुए मन की चञ्चलता को खीझ-खीझ कर कोसा करते हैं। मन में स्मरण होता है वाणी से जप चलता है।

परमात्मा से अथवा अपने आराध्य भगवान से सम्बन्ध जोड़ने के लिए जप करते रहना आवश्यक है। जप की सफलता यही है कि अपने आराध्य से सम्बन्ध हो जाय। जप करते हुए भगवान से या मन्त्र -देवता से जो साधक सम्बन्ध का अनुभव नहीं करता उसका सम्बन्ध अवश्य ही संसार की ही किसी शक्ति सम्पत्ति अधिकार तथा व्यक्ति से है, भगवान को वह हृदय से चाहता ही नहीं।

जप करते हुए साधक के लिए सर्वप्रथम आवश्यक बात यही है कि नाम जप करते ही यह दृढ़ विश्वास रक्खे कि जिन भगवान् का मैं नाम ले रहा हूँ वह सर्वव्यापक परमात्मा भगवान अपने से दूर नहीं है प्रतिक्षण वह मिला



हुआ ही है; भले ही हम उसे अपनी आँखो से न देखें पर वह हमको निरन्तर देख रहा है, उसी की सत्ता से हम सब कुछ कर रहे हैं।

भगवान्-परमात्मा अपने से अभिन्न हैं, नित्य मिले ही हैं-ऐसा विश्वास रख कर जप करने से उनसे अवश्य ही सम्बन्ध हो जाता है। परमात्मा से सम्बन्ध अनुभव करने पर जप करते हुए मन चञ्चल नहीं हो-यही जप की सिद्धि है।

जप करने की कई विधियाँ प्रचलित हैं परन्तु जिस प्रकार मन जप में लग जाय वही विधि सुन्दर है। मन एकाग्र होने पर मानसिक जप स्वतः होने लगता है।

जप सबसे अधिक सुगम साधन है परन्तु वह अधिक से अधिक होना चाहिए। जप इतना अधिक होना चाहिए कि कभी समय व्यर्थ वार्ता में, या व्यर्थ चिंतन मनन में नष्ट होवे ही नहीं। बैठे हुए, लेटे हुए, चलते हुए, सदा जप करते रहने वाला साधक स्वतः स्मरण की स्थिति को प्राप्त कर लेगा। भगवान् का सम्बन्ध विस्मरण न हो यही



जप की सिद्धि है।

माला के सहारे जप अधिक होता है। जिन्हें माला रखने में अड़चने हो उन्हें समय निश्चित् करके जप करना चाहिए और अवकाश मिलते ही स्वतः ही जप होने लगे-ऐसा अभ्यास बढ़ा लेना चाहिए।

जप के सहारे जितना अधिक मन की वृत्तियाँ रूकेंगी या अन्तर्मुखी होंगी। उतना ही शक्ति अथवा मनोबल की वृद्धि होगी। अन्तर्मुखी वृत्ति होने पर अपने दोषों का सरलता से दर्शन होगा। अपने भीतर दोषों को देखना दुखी साधक की उन्नति का साधन बन जाता है। जो साधक अपने में दोषों को देखकर दुःखी नहीं होता उसकी सुखासक्तिवश उन्नति नहीं हो पाती।

जप करते हुए नाम के साथ ही नामी के चरित्र का, लीलाओं का, मनन करना चाहिए। अर्थ का मनन करते हुए ही जप करना उत्तम है, जिन मन्त्रों का अर्थ न समझ में आये उसके स्वर में, उच्चारण ध्वनि में ही मन लगा कर विश्वास पूर्वक जप करना श्रेष्ठ है।

## साधना में कीर्तन

कीर्तन भी प्रेममय भगवान् से सम्बन्ध जोड़ने में सहायक है। जिसका जप में मन न लगे उसे कीर्तन करना ही चाहिए और जब अकेले कीर्तन में मन न लगे तब सामूहिक रूप से कई लोगों में मिल कर संकीर्तन करना उत्तम है।

उच्च्य स्वर से भगवान के नाम को ताल ध्वनि से गाते हुए मन से उसकी कीर्ति महिमा का मनन करते रहना कीर्तन है। परमात्मा की ही महिमा अथवा उसके ही अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य का वर्णन करते रहना कीर्तन है। प्रभु की कीर्ति का भान कीर्तन है।

वाणी से कीर्तन हो रहा है और मन श्रोताओं में चञ्चल है या केवल राग रागिनी ताल स्वर में मोहित है तो यह कीर्तन चित्त शुद्धि का साधन नहीं बनता।

कीर्तन में ताल स्वर की विशेषता नहीं प्रत्युत भाव की विशेषता होना अत्यावश्यक है। जो महापुरूष कलिकाल में



कीर्तन की ही महिमा गाते हैं, उसमें भाव की प्रधानता न भूलना चाहिए। भाव रहित कीर्तन जप पूजा पाठ से मंगल भले ही होताहै परन्तु कल्याण नहीं हो पाता। कीर्तन पूजा पाठ का जो महद्फल है उसकी उपलब्धि नहीं होती।

## साधना में पाठ पूजा

किसी भक्तिप्रधान ग्रंथ का पाठ इसीलिए करना चाहिए कि परमेश्वर की तथा न्याय, प्रेम, धर्म की महिमा सुन सुनकर परमात्मा के प्रति प्रीति बढ़े, जिज्ञासा बढ़े।

पाठ भी भगवद् सम्बन्ध एवं प्रीति की वृद्धि में सहायक है। कुछ लोग सांसारिक लाभ के लिए पाठ पूजा करते हैं। उनका भी भगवान से सम्बन्ध होता है, परन्तु पूर्ण प्रीति नहीं होती, क्योंकि उनकी दृष्टि में मान का, माया का, भोग सुख का मूल्य अधिक बढ़ गया है।

किसी भी निमित्त से भगवान का स्मरण आता रहे, अपना मन परमात्मा की निकटता का अनुभव करता रहे, उसी निमित्तों को स्वीकार करते रहना मंगलमय है।



साधकों को यह भी समझ लेना है कि पाठ पूजा इसी प्रकार के निमित्तो में से है। पाठ के सहारे या किसी मूर्ति पूजा के सहारे भगवान् का स्मरण आते रहना जीवन कल्याण के लिए अत्यन्त शुभ है।

परमेश्वर का स्मरण किसी भी भाव से जब कोई करने लगता है तब उसे आगे बढ़ाने के लिए विवेक वृद्धि के लिए वे प्रभु सत्संग का सुयोग सुलभ करते हैं। कदाचित् भगवत् कृपा से मिले हुए सत्संग का कोई उचित आदर न करे तो उसका दुर्भाग्य ही कहना होगा।

## साधना में आहार

साधन पथ में चलने वाले का आहार शुद्ध सतोगुणी होना चाहिए। केवल जीभ ही नहीं, उसे सभी इन्द्रियों का आहार शुद्ध रखना चाहिए। नेत्रों का आहार सुन्दर रूप का दर्शन है, कानों का आहार मधुर गान श्रवण है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के विषय में समझ लेना है। सभी इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों की खुराक हैं। मन की खुराक है इच्छाओं की पूर्ति। जैसा आहार होगा वैसा ही मन होगा।



साधक को तो सब कुछ सतोगुणी चाहिए। सतोगुणी भोजन, सतोगुणी स्थान, सतोगुणी संग तथा परस्पर का व्यवहार भी जब सतोगुणी होगा तभी अन्तःकरण शुद्ध होगा। तभी साधना सफल हो सकेगी।

## साधना में व्रत

साधना में व्रत की भी अत्यन्त आवश्यकता है। व्रत से शरीर के विकार, मन के विकार दूर होते हैं। शरीर में एकत्रित हुआ भोजन दूषित भाग व्रत के द्वारा भस्म हो जाता है। यदि व्रत उपवास नहीं किया जाता है तब प्राकृतिक विधान के द्वारा शरीर की शुद्धि की जाती है।

कुछ लोग व्रत से डरते हैं, उन्हें अपने शरीर के दुर्बल होने का भय रहता है। उन्हें ही कभी न कभी ज्वर, जुखाम, अतिसार आदि रोगों के आक्रमण से दुर्बल, शक्ति हीन होना ही पड़ता है। अधिकतर लोग यही समझते हैं, कि भोजन से ही शरीर को शक्ति मिलती है उन्हें यह स्मरण कर लेना चाहिए कि भोजन से ही नहीं वरन् जीवन के लिए शक्ति परमात्मा से मिलती है।

अनियमित भोजन करने से शक्ति का उल्टा ह्रास होता है।

साधक को तभी भोजन करना चाहिए जब अत्यधिक क्षुधा प्रबल हो। कुछ भोजन-वैज्ञानिकों की राय है कि दिन में फल दूध का सेवन कर ले, सायंकाल भोजन एक बार ही करे इससे शरीर में रोग आने का अवसर ही नहीं रहता । शरीर कुछ कृश भले ही हो पर शक्ति तो अधिक भोजन करने वालों से अधिक होती है। ऐसे संयमी व्यक्ति श्रम में थकते नहीं है।

जिस प्रकार दान से धन की शुद्धि होती है उसी प्रकार व्रत उपवास से तन की शुद्धि होती है और ईश्वर स्मरण से मन की शुद्धि होती है।

साधक को एकादशी, प्रदोष, अमावस्या, पूर्णिमा कोई न कोई व्रत प्रति मास अवश्य रखना चाहिये। व्रत के दिन जल सेवन करना चाहिये, न रहा जाय तब फल का रस या शाक का रस लेना चाहिये। घी की तली वस्तुयें खाने से व्रत का वह लाभ नहीं होता जो होना चाहिये।



आहार में संयम-नियम के व्रत से शरीर निरोग रहता है, शरीर के निरोग रहने से साधना में बाधा नहीं पड़ती; किन्तु व्रत इतने से ही पूर्ण नहीं होता। शारीरिक रोग की भाँति मानसिक रोग भी साधना में महान बाधक हैं।

काम क्रोध लोभी मोह मद मत्सर ईर्ष्या द्वेषादि मानसिक विकारों के दमन शमन के लिए भी कठिन व्रत की आवश्यकता है।

वास्वत में लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अथवा साधन की सिद्धि के लिए एवं दुखदाई दोनों की निवृत्ति के लिये जो दृढ प्रतिज्ञा की जाती है इसी को व्रत कहते हैं। जिस प्रकार मनोवृत्ति को अन्तरमुखी बनाने के लिये, शरीर के विकार दूर करने के लिये कभी-कभी निराहार रहना या एक ही समय सात्विक आहार करना या स्वल्पाहार करना आवश्यक व्रत है उसी प्रकार सत्य बोलने का व्रत, दान देने का व्रत सेवा करने का व्रत, वीर्यरक्षा का व्रत, किसी को अपने सुख के लिये दुःख न देने का व्रत भी साधना की पूर्णता में एवं लक्ष्य की प्राप्ति में अत्यावश्यक है।



## साधना में तप

साधक के जीवन में तपस्या की सामयिक आवश्यकता है। व्रत के निभाने में उसे अडिग रखने में जो प्रतिकूलता अथवा जो कष्ट एवं कठिनाइयाँ आयें उन्हें सहन करते रहना तप है; इस प्रकार के तप से शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता दूर होती है, शक्ति बढ़ती है।

आरम्भ में कोई भी व्रती तप का सहारा लिये बिना व्रत को अडिग रखने की शक्ति नहीं प्राप्त कर पाता।

कोई तपस्वी ही अकोध व्रत को, अलोभ व्रत को, ब्रह्मचर्य व्रत को, सेवा व्रत को अटल रखने में समर्थ होता है। व्रत की पूर्णता के लिये जिस प्रकार दृढ़ संकल्प आवश्यक है उसी प्रकार दृढ़ संकल्प की पूर्णता के लिये तप की शक्ति सहायक है। आलसी और विलासी कभी व्रती एवं तपस्वी नहीं हो पाते, जब तक वे दृढ़ संकल्प न करें और साहस, उत्साह धीरज का सहारा न लें। अतः तपस्वी को साहस, उत्साह और धैर्य से काम लेना चाहिये। तप से दोषों का दमन होता है।



यदि कोई तपस्वी अपने तप को अभिमान और क्रोध में दूषित होने से बचाता रहे तो उसे अवश्य ही अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

## साधना में प्रायश्चित

साधक के जीवन में प्रायश्चित एक प्रकार से अपनी भूल का स्वेच्छापूर्वक दण्ड है।

किसी प्रकार की सुखासक्ति वश या इन्द्रिय लोलपता के कारण जब व्रत एवं तप में प्रमाद से बाधा पड़ती है- जिसका प्रतिफल प्राकृतिक विधान द्वारा भोगना ही पड़ता है उसे निश्चित समय के पूर्व ही अपने आप ही दुख भोग की परिस्थिति बना लेना ही प्रायश्चित है। एक सन्त के मतानुसार की हुई भूल को अथवा दोषयुक्त प्रवृत्ति को पुनः न दुहराना प्रायश्चित है।

दोषनिवृत्ति के लिये और साधक की प्रगति के लिए प्रायश्चित भी अत्यन्त आवश्यक है किन्तु वह विवेक पूर्वक ही होना चाहिये, अमर्यादित हठ पूर्वक शरीर को कष्ट देने में तामसी प्रकृति की साधना बन जाती है-उससे

बचना चाहिये।

पश्चाताप प्रायश्चित का समय, शक्ति के रहते हुए ही है अतः जब दोष का ज्ञान हो तभी प्रायश्चित करना चाहिये।

सुख से अधिक दुखी होने से दोष युक्त प्रवृत्ति पुनः न दुहराने से प्रायश्चित पूर्ण होता है।

## साधना में प्रार्थना

साधक को अपनी साधना के साथ प्रार्थना का नित्य ध्यान रखना चाहिये। प्रार्थना साधक को अभिमान की संकीर्णता से मुक्त बनाती है।

अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिये अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मिली हुई शक्ति से प्रयत्न करने के पश्चात् शक्तिमान परमात्मा का आश्रय लेना प्रार्थना है। जो व्यक्ति प्राप्त शक्ति से प्रयत्न न करके प्रार्थना करता है उसकी प्रार्थना एक प्रकार का छल है। प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करते हुए अपनी सफलता चाहने वाले ही



प्रार्थना के अधिकारी हैं।

प्रार्थना आस्तिक जीवन को तथा निर्बल को बल प्रदान करती है। प्रार्थना निर्बल दुखी हृदय की पुकार है।

जिसे सारी सफलता शक्तिमान परमात्मा की शक्ति से ही सिद्ध होती दीखती है वही सच्चा प्रार्थी है। प्रार्थना करने वाले आस्तिक में कभी अभिमान नहीं आता।

प्रार्थना करने वाले साधक को इतना विवेक तो होना ही चाहिये कि वह शक्तिमान परमदाता परमात्मा को किञ्चित भी कहीं दूर न समझे। प्रभु को अभिन्न समझ कर प्रार्थना करे।

जिस प्रकार दान से धन की शुद्धि होती है उसी प्रकार व्रत उपवास से तन की शुद्धि होती है और ईश्वर स्मरण से मन की शुद्धि होती है।

साधक को एकादशी प्रदोष अमावस्या, पूर्णिमा कोई न कोई व्रत प्रति मास अवश्य रखना चाहिये। व्रत के दिन जल सेवन करना चाहिये, न रहा जाय तब फल का रस या शाक का रस लेना चाहिये। घी की तली वस्तुयें खाने



से व्रत का वह लाभ नही होता जो होना चाहिये।

## साधना शिविर में

**सेवा प्रेमी प्रबन्धकों का कर्तव्य**

१. जिसे फर्श बिछाने की सेवा दी जाय वह सभा बैठने के निश्चित समय के प्रथम ही फर्श ठीक कर दे।

२. माइक्रोफोन पन्द्रह मिनट प्रथम तैयार करा दें। इसी प्रकार जिसे भोजनादि कार्य सौंपा गया हो वह अपने कार्य में सावधान रहे।

३. जो सेवा कार्य दिखाई दे उसमें अवकाश पाते ही सम्मिलित हो जाओ, समय पर सेवा की खोज करो।

४. साधन क्षेत्र में इतना सावधान रहो कि परस्पर कुल का, धन का, रूप का, विद्या का, त्याग का, तप का, योग्यता का अभिमान न आने पाये।

५. अपने साथ जो कुछ भी सुन्दर त्याग ज्ञान प्रेम की विशेषता देखो उसे अपना न मानकर सर्वगुण एवं ज्ञान पूर्ण परमात्मा से मिला हुआ समझो।



६. सेवा करते हुए दूसरे के अधिकार का तथा अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करने का ध्यान रक्खो।

७. सेवा करते हुए अभिमान लोभ क्रोध तथा सुखोपभोग और आलस्य को न घुसने दो।

८. सेवा करते हुए अपने दोषों के नाश पर और सद्गुणों के विकास पर दृष्टि रक्खो।

९. जितना ही अधिक सेवा के अवसर मिलेंगे उतना ही तुममे नम्रता सरलता, उदारता, सहनशीलता तथा प्रीति की एकता पूर्ण होनी चाहिए। यदि ऐसा न हो तो सेवा में भूल की खोज करो और उसे दूर करो।

शक्ति सम्पत्ति के सदुपयोग को ही सेवा कहते हैं।

तन से सेवा करोगे तो शरीर परिश्रमी होगा, बलसार्थक होगा।

धन से सेवा करोगे तो उदारता बढ़ेगी, धन सार्थक होगा।

विद्या से सेवा करोगे तो योग्यता बढ़ेगी, विद्या सार्थक

होगी।

वाणी से सेवा करोगे तो ऐश्वर्य बढ़ेगा, शक्ति सार्थक होगी।

किसी को प्यार देकर, मान देकर सेवा करोगे तो प्रेम बढ़ेगा, जीवन सार्थक होगा।

सेवा तभी पूर्ण होगी जब उसके बदले में धन न चाहोगे, भोग न चाहोगे, मान न चाहोगे।

सेवक के स्वभाव में पवित्रता निवास करती है। संसार का प्यार मिला है तो किसी सेवक को ही मिला है।

सेवा के द्वारा ही संसार का राग निवृत होता है। रागी द्वेषी मोही कामी अभिमानी लोभी सेवा नहीं कर पाता।

स्वार्थ पूर्ति का प्रायश्चित् सेवा है।

सेवा के द्वारा सुगमता से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त शुद्ध होने पर सर्व हितकारी प्रवृति और वासनारहित निवृति का दर्शन मिलता है।



सभी साधन चित्त शुद्धि के लिए हैं।

## साधना शिविर में साधकों के कर्तव्य

१. अपने बिस्तर तथा जूते चप्पल समेट कर सुरक्षित स्थान में रखें।

२. कार्यक्रम के अनुसार घन्टा ध्वनि होने के साथ ही सावधान होकर निश्चित समय के भीतर निश्चित् स्थान में उपस्थित हो जाओ।

३. अपने वस्त्र सूखने के पश्चात् पड़े न रहने दो।

४. व्यायाम आसन में नारियाँ सम्मिलित नहीं होगी।

५. जलपान एवं प्रसाद लेने में लोभ को स्थान न दो और एक दूसरे के पीछे खड़े होकर लेते जाओं, किसी को धक्का न दो।

६. भोजन करते समय अपना पात्र लेकर बैठो और स्वयं ही उसकी सफाई कर लो।

७. भोजन ठूँस कर न करो, सात्विक भोजन करो।



८. धूम्रपान आदि कोई व्यसन न करो।

९. सेवा कार्य जिसे जो सौंपा जाय या कार्य सामने आ जाय, उसे सुन्दर ढंग से समय पर पूर्ण करो।

१०.दोपहर और रात्रि में दस बजे से ४ बजे तक मौन अवश्य ही रक्खो जिससे कि किसी के एकान्तिक कार्य में तथा विश्राम में बाधा न हो।

११.बहुत अधिक ध्यान रक्खो! तुम्हारे उठने बैठने में चलने में, किसी के विश्राम में तथा ध्यान, भजन में बाधा न पहुँचे। व्यर्थ वार्ता भी न करो।

१२.ऐसी चट्टी पहिन का साधना स्थल में न चलो जिसमें अधिक आवाज होती हो

१३.अपने द्वारा किसी प्रकार की गन्दगी न होने दो, अपने आसपास के स्थान तथा कमरे को स्वच्छ रक्खो।

१४.यदि बाहर मल त्याग के लिए जाओ तो दूर जाओ और ऊपर से मिट्टी डाल दो जिससे दुर्गन्धि न फैले



और मक्खियाँ न बढ़ें।

१५.पेशाब करने के पश्चात जल का प्रयोग करो। पक्की जमीन में मूत्र त्याग के प्रथम और पीछे जल अवश्य छोड़ दो।

१६.अशिक्षित बालकों और वृद्धों की असावधानी देखकर नम्रतापूर्वक समझा कर सावधान कर दो।

१७.परस्पर अधिक ऊँचे स्वर में वार्तालाप न करो।

१८.यदि किसी को प्रातः पाठ करने का अभ्यास हो तो वह चार बजे के प्रथम और ध्यान एवं मूक सत्संग के समय ध्वनिपूर्वक पाठ न करें।

१९.किसी प्रकार की प्रतिकूलता देखकर अपनी नम्रता सरलता का सहारा न छोड़ो।

## सभा में

२०.सभा में सबसे आगे पाँच व्यक्तियों की जगह छोड़ कर बैठना आरम्भ करो, फिर बीच में स्थान न

छोड़ो। किसी के बीच में घुस कर न बैठो, आगे पीछे जिस क्रम से जाओ उसी प्रकार बैठो।

२१.ध्यान में छोटे बालकों को साथ लेकर मातायें न बैठें।

२२.ध्यान अर्थात् मूक सत्संग में वह लोग भी न बैठें जिन्हे खाँसी आती है, यदि बेठने की प्रबल रूचि हो तो वहाँ बैठें जहाँ से खाँसी आने पर तुरन्त बाहर जा सकें।

२३.सत्संग में किसी प्रकार की वार्ता न करनी चाहिये, किसी को सावधान करना हो तो संकेत से ही करो।

२४.सत्संग में बालकों वाली माताओं को पीछे ही बैठना चाहिए, जिससे कि शीघ्रता से उठकर बाहर जा सकें।

२५.ध्यान में बैठते समय आगे स्थान न छोड़ो, किसी से सटकर न बैठो।

२६.किसी प्रकार की ध्वनि न होने दो। माला की भी आवाज न होनी चाहिये, जोर से जमुहाई भी न लेनी चाहिये।



२७.कोई त्रुटि हो तो प्रधान को बता दो और संत की सम्मति के बिना कुछ भी स्वच्छन्दता से न करो।

# अमृत—वाणी

## पुरुषोत्तम मास चैत्र सं० २०२१

जहाँ सत परमात्मा है वहाँ विशुद्ध ज्ञान भी है, वहीं आनन्द भी है।

भगवान परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं जो कुछ असत् है जड़ है दुःख स्वरूप है वह सब माया की सीमा में है।

भगवान परमात्मा से विमुख रहने के कारण जीव संग का अभिमानी अहंकारी होकर 'मैं' और 'मेरा' के बन्धन में सुख दुःख भोगता है।

त्याग के बिना जीव को शाश्वत शान्ति नहीं मिलती।

अहंता, ममता, आसक्ति, कामना से रहित होना ही वास्तविक त्याग है।

देहादिक वस्तु से अपने को भिन्न देखने पर अहंता



मिटती है।

मिले हुये को अपना न मानने से ममता मिटती है।

सुख से विरक्त होने पर आसक्ति मिटती है।

विवेक पूर्वक सुखी, जब सुख के अन्त में बार-बार दुःख देखता है तब कामना मिटती है।

सुख के अन्त में जब तक सुखी पूर्ण दुःख को नहीं देखता तब तक उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता।

सुखी व्यक्ति के लिए आसक्ति का, ममता का त्याग करना अति कठिन है इसी लिए सुखी को दूसरों की सेवा करते रहने में हित है।

दुःखी व्यक्ति विरक्त त्यागी हो सकता है इसी लिए दुःखी को विरक्ति का उपदेश आदेश देना हितकर है।

सुखोपभोग की आसक्ति ही धर्मपरायण, कर्तव्य निष्ठ त्यागी तपस्वी योगी तथा भक्त नहीं होने देती, इसी लिए सुखी दशा में सेवा का व्रत लेना चाहिए।

सेवा करने वाले सेवक में पाँच विशेषतायें होनी



चाहिए :- शरीर श्रमी हो, आलस्य न रहे, मन इन्द्रियों में संयम रहे, सदाचार में कमी न रहे,

हृदय में भरपूर प्रीति रहे और बुद्धि में यथार्थ विवेक रहे।

श्रम, संयम, सदाचार, प्रीति, विवेक इनमें किसी की कमी रहते सेवा पूर्ण नहीं होती ।

किसी सेवक या सेविका के मन में यदि सेवा के बदले में धन की, मान की, भोग की चाह है तब तो उसकी सेवा स्वार्थ में बदल जायगी।

लोभी, मोही, अभिमानी, ईर्ष्यालु, द्वेषी, क्रोधी सेवा नहीं कर पाता।

किसी विरक्त तथा प्रपंच से दूर रहने वाले सन्त महात्मा के संग से कर्तव्य धर्म का अथवा कल्याण कारी साधना का ज्ञान होता है।

अतः विरक्त सन्त की सेवा करनी चाहिए जिसकी सेवा करनी हो उसकी आज्ञा के बिना कुछ न करना

चाहिए।

सेवा से त्याग पूर्ण होता है, त्याग पूर्ण होने पर प्रेम पूर्ण होता है, प्रेम की पूर्णता में ही भक्ति पूर्ण होती है।

इन्द्रियों द्वारा विषय-वृत्ति को रोकने से, वाणी द्वारा मौन होने से शक्ति सञ्चित होती है। मन की वृत्तियों के निरोध से शान्ति सुलभ होती है। बुद्धि की वृत्ति को रोकने, स्थिर करने से तत्व का ज्ञान होता है।

वस्तुओं व्यक्तियों में बिखरी हुई प्रीति को समेटने से भगवान को ही अपना मानने से भक्ति सुलभ होती है।

जब तक अपने आपका यथार्थ निरीक्षण नहीं होता तब तक भीतर की भूलों का, दोषों का ज्ञान नहीं होता।

जब कभी सुख अथवा दुःख प्रतीत हो तभी अपना निरीक्षण करना चाहिए, क्योंकि सुख दुःख की वेदना होते ही समता भंग होती है, राग द्वेष की भूमिका में विषमता आती है, विषता में ही अनेकों दोष पुष्ट होते रहते हैं यथार्थ तत्व ज्ञानी विवेकी वही है जो समता से न डिगे।



जिसकी बुद्धि सत्य परमात्मा में स्थिर है जिसका मन सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान में लगा है वही सदा सम शान्त रहता है।

चर्चा चाह चिन्तन द्वारा जिससे सम्बन्ध होता है उसी की प्राप्ति होती है।

भगवद् चर्चा (कथा) सुनने से चाह प्रबल होगी चाह प्रबल होने पर स्वतः चिन्तन होगा।

जप स्मरण चिन्तन ध्यान यही भक्ति योग के साधन हैं।

इतना अधिक नाम जप होना चाहिए कि स्वतः स्मरण होता रहे, स्मरण की प्रगाढ़ता में स्वतः चिन्तन होता है, चिन्तन की प्रगाढ़ता में स्वतः ध्यान रहता है।

ध्यान किया नहीं जाता स्वतः होता रहता है।

मानव को सर्वप्रथम अपने स्वधर्म का ही पालन करना आवश्यक है।

जितने सम्बन्ध हैं उतने ही धर्म हैं।



जब भगवान के सम्बन्ध का ज्ञान होता है तब भागवत धर्म का आश्रय लेना नितान्त आवश्यक होता है।

जो कुछ करने से भगवान से अटूट सम्बन्ध की स्मृति बनी रहे वही भागवत धर्म है।

मानव मात्र का स्वधर्म सत्संग करना है।

सत का संग करने के लिए असत् सम्बन्ध का त्याग आवश्यक है।

जो कुछ मिला है उसे अपना न मानने से असत का सम्बन्ध नहीं रहता।

जो कुछ असत अनित्य विनाशी है उससे लोभ मोह न रहना ही सम्बन्ध का टूट जाना है।

जब मन बुद्धि से कुछ नहीं किया जाता तब सत्संग का अनुभव होता है।

जीव का स्वधर्म केवल भगवान का भजन करना, भक्त होकर रहना है।

ईश्वरमय जीवन ही स्वधर्म का फल है।



धर्माचरण से ही विरक्ति होती है, विरक्ति होने पर ही भगवान से अनुरक्ति होती है।

पूर्ण अपनत्व से प्रीति दृढ़ होती है। असंग होने पर ही बन्धन से मुक्ति मिलती है। भगवान को कभी कहीं भी अपने से भिन्न न मानने से भक्ति हो जाती है।

जब तक किसी प्रकार का लालच रहेगा, जब तक कर्तव्य पालन में आलस्य प्रमाद रहेगा; जब तक विवेक विरूद्ध कर्म होते रहेंगे, जब तक स्वरूप की विस्मृति रहेगी, तब तक भय न मिटेगा।

भय के रहते, भेदभाव के रहते, तृष्णा के रहते बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती, चित्त शान्त नहीं रह सकता; संघर्ष विषमता नहीं मिट सकती।

जप तप पूजा पाठ तीर्थ सेवन अध्ययन तभी सार्थक हैं जब मन अचञ्चल हो, चित्तशान्त हो, बुद्धि स्थिर हो, परमात्मा से ही प्रीति हो।

धर्म ग्रन्थ पढ़ते रहने से उपदेश सुनते रहने से

विचारों में परिवर्तन तो होता है परन्तु लोभ मोह अभिमान काम क्रोधादि विकार बने ही रहते हैं।

काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेषादि विकारों को जितना अधिक दुहराया जाता है उतना ही अभ्यास दृढ़ हो जाता है, वह सहज कर्म बन जाता है।

अभ्यास को बदलने के लिए विपरीत अभ्यास और विचार को बदलने के लिए प्रतिकूल विचारों की पुनरावृति आवश्यक है।

जिस वस्तु को अथवा जिस व्यक्ति को देखते ही अपनी होने की स्मृति होती रहती है वहीं पर अपना कुछ भी नहीं है, सब परमेश्वर का ही है, यह स्मृति होती रहे, तब मोह लोभ अभिमान समाप्त हो सकता है।

जब कभी 'मैं हूँ, यह मेरा है' - यह भाव उदय हो उसी समय 'प्रभु केवल तुम्हीं हो, यह सब तुम्हारा ही है'- यह याद बनी रहे।

'यह मैं हूँ, यह मेरा है', इसके प्रतिकूल हर समय



'प्रभो तुम्हीं तुम हो, यह तुम्हारा ही है, अपना कुछ भी नहीं है। अपने तो एक मात्र सर्वस्व तुम्हीं हो'-ऐसा सदैव ज्ञान ध्यान बना रहे।

जहाँ मैं और मेरापने की स्मृति रहती है वहीं पर उतनी ही बार 'प्रभो तुम्ही सर्वाश्रय हो, यह सब कुछ तुम्हारा ही है- यही स्मृति दृढ़ नहीं हो सकी तब तो लोभ मोह अभिमान अहंकार नहीं छूटेगा।

सन्त संग स्वाध्याय सत् कथा श्रवण के द्वारा सत परमात्मा का और असत अनित्य का ज्ञान प्राप्त करना है, अशुभ, असुन्दर, अपवित्र का त्याग करना है, शुभ, सुन्दर, पवित्र का दान करना है, शक्ति सञ्चय के लिए संयमी रहना है, पुण्यों को सुरक्षित रखने के लिए और पुण्य के सञ्चय के लिए सुखोपभोग से विरक्त होना है, सामर्थ्य के लिए दुर्बलता दूर करने के लिए तपव्रत का आश्रय लेना है। निर्भय निश्चिन्त रहने के लिए नित्य परमात्मा पर विश्वास करना है। ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रद्धावान होना है।



इधर-उधर भटकना छोड़कर मनुष्यों में विद्यमान परमेश्वर को जान लेना है।

भूल भ्रान्ति अज्ञान से मुक्त होकर पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना है।

जप, सन्ध्या, पूजा, पाठ को ही पूर्ण साधन न मान कर सत्य, दया, श्रम, सेवा, त्याग, प्रेम में आस्था श्रद्धा करना है।

बाहर के तीर्थो के यात्रा से यदि पवित्रता में कमी दीखती है तब सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, सर्व भूत दया, सत्यवादिता, ज्ञान, तप इन मानस तीर्थो का सेवन करना है।

काम विकार, द्वेषबुद्धि, आलस्य, अस्वस्थता और संशय-यह पाँच आवरण ज्ञान की पूर्णता में बाधक हैं।

लोभ द्वेष मोह के रहते पाप प्रवृत्ति समूल नष्ट नहीं होती।

पूर्ण आस्तिक ही लोभ, मोह, द्वेषादि विकारों सें रहित



हो सकता है।

पूर्ण आस्तिक अपने साथ जो कुछ भी देखता है उसे अपना न मान कर परमेश्वर का ही मानता है। केवल परमात्मा को ही अपना सर्वस्व जानता है। ममता के नाश होते ही समता आती है।

साधक को जिसका त्याग करना है वह राग के कारण नहीं होता।

जिसे प्राप्त करना है वह प्रेम की कमी के कारण नहीं मिलता।

विकार-युक्त दोषी जीवन किसी के लिए उपयोगी नहीं होता। इच्छा, द्वेष, मोह के त्याग से अपना और दूसरों का हित होता है।

इच्छा से कामना से पीड़ित होकर, द्वेष से दुष्टचित्त होकर, मोह से क्षुभित होकर आतंक भय से आकुल होकर हम अपनी और दूसरों की हानि करते रहते हैं।

गुरू के उपदेश, सात्त्विक श्रद्धा, स्थिर-मन, लगातार

अभ्यास-यह ध्यान योग में सहायक होते हैं।

ध्यान करने के साथ यह भी ध्यान में रक्खो कि उसका ध्यान छोड़ना है जो भगवान के ध्यान में बाधक है।

भविष्य की चिन्ता नहीं करना, बीती घटनाओं के पन्ने उलट कर मनन नहीं करना, वर्तमान में अपना कर्तव्य पूरे करते रहना, विवेकी साधक के जीवन में ही सम्भव है।

आशा, भय, लोभ, स्नेह से रहित पुरूष की ही मुक्ति होती है।

ज्ञान स्वरूप से प्रीति करना ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

भगवान से प्रीति तभी होगी जब उन्हें अपना सर्वस्व मानोगे। अपना सर्वस्व तभी मान सकोगे जब भगवान से कुछ भी न चाहोगे।

उनसे कुछ तभी न चाहोगे, जब देह मन आदि वस्तुओं को अपनी न मानोगे।

जिस भजन के पीछे दृढ़ आस्था न हो, अडिग विश्वास



न हो, अटूट श्रद्धा न हो, प्रभु के प्रति आत्मीयता न हो वह भजन नहीं कोई शुभ कर्म भले ही होगा।

साधक की आवश्यकतायें जितनी कम होंगी उतनी प्रियतम प्रभु से निकटता होगी।

बाहर से जो सुन्दर दीखता है वह सदैव श्रेष्ठ नहीं रहता किन्तु जो कुछ श्रेष्ठ है वह सदैव सुन्दर रहेगा।

प्रत्येक कार्य, कार्य के आरम्भ और अन्त में पूर्ण शान्त होकर सत का संग करो यही संध्या है।

परमात्मा को भिन्न न मानने से, चाह रहित होने से, कुछ न करके शान्त हो जाने से स्वतः सत का ही संग शेष रहता है।

मन को हृदय के भीतर आत्मस्वरूप में स्थिर करना ध्यान योग है।

अहं रूप से स्फुरित हृदय में चैतन्य मयी ज्योति है इसी का ध्यान करना चाहिये।

अज्ञान बन्धन के हटते ही जीव ही शिवस्वरूप है।



दीर्घकाल के ध्यान में मन सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म निश्चल मन द्वारा ही आनन्द का अनुभव होता है।

सभी को अपना मानो तो राग-द्वेष नहीं रहेगा एक प्रभु को अपना मानो तो प्रेम पूर्ण होगा।

किसी को अपना न मानो तो बन्धन से, मोह से छुटकारा मिलेगा।

मन को अपना मान कर कभी लगा नहीं सकते, लगा है तो हटा नहीं सकते अतः उसे भगवान का मान कर समर्पित कर दो।

मन करण है कर्ता नहीं है। कामना मन में नहीं है ; अपने में ही है अतः कामना का त्याग करना होगा।

इन्द्रिय ज्ञान, राग-द्वेष में आबद्ध करता है। बुद्धि ज्ञान, त्याग प्रेम प्रदान करता है। आत्मा में अनन्त शक्ति सामर्थ्य एवं अनन्त ज्ञान विद्यमान है, बुद्धि योग द्वारा उसकी जाग्रति होती है।

जो भोग में ऐश्वर्य में आसक्त है वह बुद्धि योगी नहीं हो



सकता।

जिनका चित्त भोगों की कामना से आतुर अधीर रहता है उनके लिए सन्त एवं भक्तों द्वारा भगवान की लीलाओं का मनन कीर्तन संसार सागर से पार जाने का जहाज है।

**कभी कभी ऐसे शान्त हो जाओ कि कुछ भी न करो; यदि शान्त होने पर मन की चंचलता प्रतीत हो तो उसे चंचल रहने दो आप स्थिर रहो और उसकी चंचलता देखते रहो, जब तुम मन को सहयोग न दोगे, तब वह स्वयं शान्त हो जायगा।**

**भोग चाहते हो तो सदा कुछ न कुछ करना ही होगा। योग चाहते हो तो जो कुछ करते हो उसे छोड़ कर शान्त मौन होकर रहना होगा।**

**जो सदा रहेगा उस परमात्मा में ही प्रीति करो जो सदा न रहेगा उस जगत से प्रीति न करो।**